श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

ऋषभ गीता पञ्चमोऽध्यायः (भा॰म॰5.5)

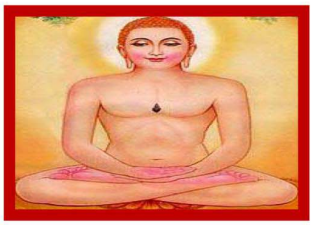

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्
पञ्चम स्कन्धः
॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

ऋषभ उवाच

नायं(न्) देहो देहभाजां(न्) नृलोके,
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां(यँ) ये ।
तपो दिव्यं(म्) पुत्रका येन सत्त्वं(म्),
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं(न्) त्वनन्तम् ॥ 1॥

श्रीऋषभदेवजीने कहा- पुत्रो। इस मर्त्यलोकमें यह मनुष्य शरीर दुःखमय विषयभोग प्राप्त करनेके लिये ही नहीं है। ये भोग तो विष्ठाभोजी सूकर कूकरादिको भी मिलते ही हैं। इस शरीरसे दिव्य तप ही करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो; क्योंकि इसीसे अनन्त ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है ।

महत्सेवां(न्) द्वारमाहुर्विमुक्ते-

स्तमोद्वारं(यँ) योषितां(म्) सङ्गिसङ्गम् ।

महान्तस्ते समचित्ताः(फ्) प्रशान्ता,

विमन्यवः(स्) सुहृदः(स्) साधवो ये ॥ 2॥

शास्त्रोंने महापुरुषों की सेवाको मुक्तिका और स्त्रीसंगी कामियोंके सङ्गको नरकका द्वार बताया है। महापुरुष वे ही हैं जो समानचित्त, परमशान्त, क्रोधहीन, सबके हितचिन्तक और सदाचार सम्पन्न हो ।

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था,

जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।

गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु,

न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ 3॥

अथवा मुझ परमात्माके प्रेमका ही जो एकमात्र पुरुषार्थ मानते हों, केवल विषयोंकी ही चर्चा करनेवाले लोगोंमें तथा स्त्री, पुत्र और धन आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न घरोंमें जिनकी अरुचि हो और जो लौकिक कार्योंमें केवल शरीरनिर्वाहके लिये ही प्रवृत्त होते हों ।

नूनं(म्) प्रमत्तः(ख्) कुरुते विकर्म,

यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।

न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-

मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥ 4॥

मनुष्य अवश्य प्रमादवश कुकर्म करने लगता है, उसकी वह प्रवृत्ति इन्द्रियोको तृप्त करनेके लिये ही होती है। मैं इसे अच्छा नहीं समझता, क्योंकि इसीके कारण आत्माको यह असत् और दुःखदायक शरीर प्राप्त होता है ।

पराभवस्तावदबोधजातो,

यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।

यावत्क्रियास्तावदिदं(म्) मनो वै,

कर्मात्मकं(यँ) येन शरीरबन्धः ॥ 5॥

जबतक जीवको आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा नहीं होतो, तभीतक अज्ञानवश देहादिके द्वारा उसका स्वरूप छिपा रहता है। जबतक यह लौकिक-वैदिक कर्मोंमें फँसा रहता है, तबतक मनमें कर्मकी वासनाएँ भी बनी ही रहती हैं और इन्हींसे देह-बन्धनको प्राप्ति होती है ।

एवं(म्) मनः(ख्) कर्मवशं(म्) प्रयुङ्क्ते,

अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने ।

प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे,

न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥ 6॥

इस प्रकार अविद्याके द्वारा आत्मस्वरूपके ढक जानेसे कर्मोंवासनाओंके वशीभूत हुआ चित्त मनुष्यको फिर कर्मोंमें ही प्रवृत्त करता है। अतः जबतक उसको मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती, तबतक वह देहबन्धनसे छूट नहीं सकता ।

यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां(म्),

स्वार्थे प्रमत्तः(स्) सहसा विपश्चित् ।

गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-

नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥ 7॥

स्वार्थमें पागल जीव जबतक विवेक-दृष्टिका आश्रय लेकर इन्द्रियोंकी चेष्टाओंकी मिथ्या नहीं देखता, तबतक आत्मस्वरूपको स्मृति खो बैठने कारण वह अज्ञानवश विषयप्रधान गृह आदिमें आसक्त रहता है और तरह-तरहके क्लेश उठाता रहता है ।

पुं(म्)सः(स्) स्त्रिया मिथुनीभावमेतं(न्),

तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-

र्जनस्य मोहोऽयमहं(म्) ममेति ॥ 8॥

स्त्री और पुरुष- इन दोनोंका जो परस्पर दाम्पत्यभाव है, इसीको पण्डितजन उनके हृदयकी दूसरी स्थूल एवं दुर्भेद्य ग्रन्थि कहते हैं। देहाभिमानरूपी एक-एक सूक्ष्म ग्रन्थि तो उनमें अलग-अलग पहलेसे ही है। इसीके कारण जीवको देहेन्द्रियादिके अतिरिक्त घर, खेत, पुत्र, स्वजन और धन आदिमें भी 'मैं' और 'मेरे' पनका मोह हो जाता है ।

यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य,

कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत ।

तदा जनः(स्) सम्परिवर्ततेऽस्मान्-

मुक्तः(फ्) परं(यँ) यात्यतिहाय हेतुम् ॥ 9॥

जिस समय कर्मवासनाओंके कारण पड़ी हुई इसकी यह दृढ़ हृदय-ग्रन्थि ढीली हो जाती है, उसी समय यह दाम्पत्यभावसे निवृत्त हो जाता है और संसारके हेतुभूत अहङ्कारको त्यागकर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो परमपद प्राप्त कर लेता है ।

हं(म्)से गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्त्या,

वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।

सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या,

जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥ 10॥

मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं(म्),
मद्देवसङ्गाद् गुणकीर्तनान्मे ।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुंत्रा,
जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः ॥ 11॥

अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया,
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक् ।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वद्
असम्प्रमादेन यमेन वाचाम् ॥ 12॥

सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन,
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन ।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो,
लिङ्गं(वँ) व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम् ॥ 13॥

पुत्रो ! संसारसागरसे पार होनेमें कुशल तथा धैर्य, उद्यम एवं सत्त्वगुणविशिष्ट पुरुषको चाहिये कि सबके आत्मा और गुरुस्वरूप मुझ भगवान् में भक्तिभाव रखनेसे, मेरे परायण रहनेसे, तृष्णाके त्यागसे, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंके सहनेसे 'जीवको सभी योनियोंमें दुःख उठाना ही पड़ता है' इस विचारसे, तत्त्वजिज्ञासासे, तपसे, सकाम कर्मके त्यागसे, मेरे ही लिये कर्म करनेसे, मेरी कथाओंका नित्यप्रति श्रवण करनेसे, मेरे भक्तोंके सङ्ग और मेरे गुणोंके कीर्तनसे, वैरत्यागसे, समतासे, शान्तिसे और शरीर तथा घर आदिमें मैं-मेरेपनके भावको त्यागनेकी इच्छासे, अध्यात्मशास्त्र के अनुशीलनसे, एकान्त-सेवनसे, प्राण, इन्द्रिय और मनके संयमसे, शास्त्र और सत्पुरुषोंके वचनमें यथार्थ बुद्धि रखनेसे, पूर्ण ब्रह्मचर्यसे, कर्तव्यकर्मोंमें निरन्तर सावधान रहनेसे, वाणीके संयमसे, सर्वत्र मेरी ही सत्ता देखनेसे, अनुभवज्ञानसहित तत्त्वविचारसे और योगसाधनसे अहङ्काररूप अपने लिङ्गशरीरको लीन कर दे ।

कर्माशयं(म्) हृदयग्रन्थिबन्ध-
मविद्ययाऽऽसादितमप्रमत्तः ।
अनेन योगेन यथोपदेशं(म्),
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात् ॥ 14॥

मनुष्यको चाहिये कि वह सावधान रहकर अविद्यासे प्राप्त इस हृदयग्रन्थिरूप बन्धनको शास्त्रोक्त रीतिसे इन साधनोंके द्वारा भलीभाँति काट डाले, क्योंकि यही कर्मसंस्कारोके रहनेका स्थान है। तदनन्तर साधनका भी परित्याग कर दे ।

पुत्रां(म्)श्च शिष्यां(म्)श्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः ।
इत्थं(वँ) विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्
न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान् ।
कं(यँ) योजयन्मनुजोऽर्थं(लँ) लभेत
निपातयन्नष्टदृशं(म्) हि गर्ते ॥ 15॥

जिसको मेरे लोककी इच्छा हो अथवा जो मेरे अनुग्रहकी प्राप्तिको ही परम पुरुषार्थ मानता हो—वह राजा हो तो अपनी अबोध प्रजाको, गुरु अपने शिष्योंको और पिता अपने पुत्रोंको ऐसी ही शिक्षा दे। अज्ञानके कारण यदि वे उस शिक्षाके अनुसार न चलकर कर्मको ही परम पुरुषार्थ मानते रहें, तो भी उनपर क्रोध न करके उन्हें समझा-बुझाकर कर्ममें प्रवृत्त न होने दे। उन्हें विषयासक्तियुक्त काम्यकर्मोंमें लगाना तो ऐसा ही है, जैसे किसी अंधे मनुष्यको जान-बूझकर गढ़ेमें ढकेल देना। इससे भला, किस पुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है ।

लोकः(स्) स्वयं(म्) श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान् समीहेत निकामकामः ।
अन्योन्यवैरः(स्) सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं(ञ्) च न वेद मूढः ॥ 16॥

अपना सच्चा कल्याण किस बातमें है, इसको लोग नहीं जानते; इसीसे वे तरह-तरहकी भोग-कामनाओंमें फँसकर तुच्छ क्षणिक सुखके लिये आपसमें वैर ठान लेते हैं और निरन्तर विषयभोगोंके लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं। वे मूर्ख इस बातपर कुछ भी विचार नहीं करते कि इस वैर-विरोधके कारण नरक आदि अनन्त घोर दुःखोंकी प्राप्ति होगी ।

कस्तं(म्) स्वयं(न्) तदभिज्ञो विपश्चिद्
अविद्यायामन्तरे वर्तमानम् ।
दृष्ट्वा पुनस्तं(म्) सघृणः(ख्) कुबुद्धिं(म्),
प्रयोजयेदुत्पथगं(यँ) यथान्धम् ॥ 17॥

गढ़ेमें गिरनेके लिये उलटे रास्तेसे जाते हुए मनुष्यको जैसे आँखवाला पुरुष उधर नहीं जाने देता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्यको अविद्यामें फँसकर दुःखोंकी ओर जाते देखकर कौन ऐसा दयालु और ज्ञानी पुरुष होगा, जो जान बूझकर भी उसे उसी राहपर जाने दे या जानेके लिये प्रेरणा करे ।

गुरुर्न सं स्यात्स्वजनो न स स्यात् ,
पिता न सं स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं(न्) न तत्स्यान्न पतिश्च सं स्यान्-
न मोचयेद्यः(स्) समुपेतमृत्युम् ॥ 18॥

जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।

इदं(म्) शरीरं(म्) मम दुर्विभाव्यं(म्),
सत्त्वं(म) हि मे हृदयं(यँ) यत्र धर्मः ।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्
अतो हि मामृषभं(म्) प्राहुरार्याः ॥ 19॥

मेरे इस अवतार शरीरका रहस्य साधारण जनोंके लिये बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसीमें धर्मकी स्थिति है, मैंने अधर्मको अपनेसे बहुत दूर पीछे की ओर ढकेल दिया है, इसीसे सत्पुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं ।

तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः(स्),
सर्वे महीयां(म्)सममुं(म्) सनाभम् ।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं(म्) भजध्वं(म्),
शुश्रूषणं(न्) तद्धरणं(म्) प्रजानाम् ॥ 20॥

तुम सब मेरे उस शुद्ध सत्त्वमय हृदयसे उत्पन्न हुए हो, इसलिये मत्सर छोड़कर अपने बड़े भाई भरतकी सेवा करो। उसकी सेवा करना मेरी ही सेवा करना है और यही तुम्हारा प्रजापालन भी है ।

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये,
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः ।
ततो मनुष्याः(फ्) प्रमथास्ततोऽपि,
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥ 21॥

अन्य सब भूतोंकी अपेक्षा वृक्ष अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, उनसे चलनेवाले जीव श्रेष्ठ हैं और उनमें भी कीटादिकी अपेक्षा ज्ञानयुक्त पशु आदि श्रेष्ठ हैं। पशुओंसे मनुष्य, मनुष्योंसे प्रमथगण, प्रमथोंसे गन्धर्व, गन्धर्वोंसे सिद्ध और सिद्धोंसे देवताओंके अनुयायी किन्नरादि श्रेष्ठ हैं।

देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना,
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम् ।
भवः(फ्) परः(स्) सोऽथ विरिञ्चवीर्यः(स्),
स मत्परोऽहं(न्) द्विजदेवदेवः ॥ 22॥

उनसे असुर, असुरोंसे देवता और देवताओंसे भी इन्द्र श्रेष्ठ हैं। इन्द्रसे भी ब्रह्माजीके पुत्र दक्षादि प्रजापति श्रेष्ठ हैं, ब्रह्माजीके पुत्रोंमें रुद्र सबसे श्रेष्ठ हैं। वे ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ब्रह्माजी उनसे श्रेष्ठ हैं। वे भी मुझसे उत्पन्न हैं और मेरी उपासना करते हैं, इसलिये मैं उनसे भी श्रेष्ठ हूँ। परन्तु ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं उन्हें पूज्य मानता हूँ ।

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्-

पश्यामि विप्राः(ख्) किमतः(फ्) परं(न्) तु ।

यस्मिन्नृभिः(फ्) प्रहुतं(म्) श्रद्धयाह-

मश्नामि कामं(न्) न तथाग्निहोत्रे ॥ 23॥

[सभामें उपस्थित ब्राह्मणोंको लक्ष्य करके] विप्रगण ! दूसरे किसी भी प्राणीको मैं ब्राह्मणोंके समान भी नहीं समझता, फिर उनसे अधिक तो मान ही कैसे सकता हूँ। लोग श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंके मुखमें जो अन्नादि आहुति डालते हैं, उसे मैं जैसी प्रसन्नतासे ग्रहण करता हूँ वैसे अग्निहोत्रमें होम की हुई सामग्रीको स्वीकार नहीं करता

धृता तनूरुशती मे पुराणी,

येनेह सत्त्वं(म्) परमं(म्) पवित्रम् ।

शमो दमः(स्) सत्यमनुग्रहश्च,

तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र ॥ 24॥

जिन्होंने इस लोक में अध्ययनादिके द्वारा मेरी वेदरूपा अति सुन्दर और पुरातन मूर्तिको धारण कर रखा है तथा जो परम पवित्र सत्त्वगुण, राम, दम, सत्य, दया, तप, तितिक्षा और ज्ञानादि आठ गुणोंसे सम्पन्न हैं—उन ब्राह्मणोंसे बढ़कर और कौन हो सकता है।

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः(फ्) परस्मात्-

स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।

येषां(ङ्) किमु स्यादितरेण तेषा-

मकिञ्चनानां(म्) मयि भक्तिभाजाम् ॥ 25॥

मैं ब्रह्मादिसे भी श्रेष्ठ और अनन्त हूँ तथा स्वर्ग-मोक्ष आदि देनेकी भी सामर्थ्य रखता हूँ; किन्तु मेरे अकिंचन भक्त ऐसे निःस्पृह होते हैं कि वे मुझसे भी कभी कुछ नहीं चाहते; फिर राज्यादि अन्य वस्तुओंकी तो वे इच्छा ही कैसे कर सकते हैं ?

सर्वाणि मद्भिष्ण्यतया भवद्भि-

श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।

सम्भावितव्यानि पदे पदे वो,

विविक्तदृग्भिस्तदुहार्हणं(म्) मे ॥ 26॥

पुत्रो ! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतोंको मेरा ही शरीर समझकर शुद्ध बुद्धिसे पद-पदपर उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है ।

मनोवचोदृक्करणेहितस्य,

साक्षात्कृतं(म्) मे परिबर्हणं(म्) हि ।

विना पुमान् येन महाविमोहात्,

कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥ 27॥

मन, वचन, दृष्टि तथा अन्य इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका साक्षात् फल मेरा इस प्रकारका पूजन ही है। इसके बिना मनुष्य अपनेको महामोहमय कालपाशसे छुड़ा नहीं सकता ।

श्रीशुक उवाच

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि

लोकानुशासनार्थं(म्) महानुभावः(फ्)परमसुहृद्-

भगवानृषभापदेश उपशमशीलाना-

मुपरतकर्मणां(म्) महामुनीनां(म्) भक्तिज्ञान-

वैराग्यलक्षणं(म्) पारमहं(म्)स्यधर्ममुपशिक्षमाणः(स्)

स्वतनयशतज्येष्ठं(म्) परमभागवतं(म्)

भगवज्जनपरायणं(म्) भरतं(न्) धरणिपालनाया-

भिषिच्य स्वयं(म्) भवन एवोर्वरितशरीरमात्र-

परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः(फ्)

प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रव्रव्राज ॥ 28॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं-राजन् ! ऋषभदेवजीके पुत्र यद्यपि स्वयं ही सब प्रकार सुशिक्षित थे, तो भी लोगोकोशिक्षा देनेके उद्देश्यसे महाप्रभावशाली परम सुहृद् भगवान् ऋषभ ने उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया। ऋषभदेवजीके सौ पुत्रोंमें भरत सबसे बड़े थे। वे भगवान् के परम भक्त और भगवद्भक्तोंके परायण थे। ऋषभदेवजीने पृथ्वीका पालन करनेके लिये उन्हें राजगद्दीपर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्तिपरायण महामुनियोंके भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसोचित धर्मोकी शिक्षा देनेके लिये बिलकुल विरक्त हो गये। केवल शरीरमात्रका परिग्रह रखा और सब कुछ घरपर रहते ही छोड़ दिया। अब वे वस्त्रोंका भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये। उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे। उन्मत्तका-सा वेष था। इस स्थितिमें वे आहवनीय (अग्निहोत्रकी) अग्नियोंको अपनेमें ही लीन करकेसंन्यासी हो गये और ब्रह्मावर्त देशसे बाहर निकल गये ।

जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽ-

भिभाष्यमाणोऽपि जनानां(ङ्) गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं(म्) बभूव ॥ 29॥

वे सर्वथा मौन हो गये थे, कोई बात करना चाहता तो बोलते नहीं थे। जड, अंधे, बहरे, गूँगे, पिशाच और पागलोंकी-सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ विचरने लगे ।

तंत्र तंत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोष-

सार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनिचरापसदैः(फ्)

परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडना-

वमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजः(फ्)प्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तैस्-

तदविगणयन्नेवासत्सं(म्)स्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे

सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेना-

समारोपित अहं(म्)ममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः(फ्)

पृथिवीमेकचरः(फ्) परिबभ्राम ॥ 30॥

कभी नगरों और गाँवों चले जाते तो कभी खानों, किसानोंकी बस्तियों बगीचे पहाड़ी गाँव सेनाकी छावनियों गोशालाओं, अहीरोंकी बस्तियों और यात्रियोंके टिकनेके स्थानोंमें रहते। कभी पहाड़ो जंगलों और आश्रम आदिमें विचरते। वे किसी भी रास्तेसे निकलते तो जिस प्रकार वनमें विचरनेवाले हाथीको मक्खियाँ सताती है, उसी प्रकार मूर्ख और दुष्टलोग उनके पीछे हो जाते और उन्हें तंग करते। कोई धमकी देते, कोई मारते, कोई पेशाब कर देते, कोई थूक देते, कोई ढेला मारते, कोई विष्ठा और धूल फेंकते, कोई अधोवायु छोड़ते और कोई खोटी-खरी सुनाकर उनका तिरस्कार करते। किन्तु वे इन सब बातोंपर जरा भी ध्यान नहीं देते। इसका कारण यह था कि भ्रमसे सत्य कहे जानेवाले इस मिथ्या शरीरमें उनकी अहंता-ममता तनिक भी नहीं थी। वे कार्य कारणरूप सम्पूर्ण प्रपंचके साक्षी होकर अपने परमात्मस्वरूपमें ही स्थित थे, इसलिये अखण्ड चित्तवृत्तिसे अकेले ही पृथ्वीपर विचरते रहते थे ।

अतिसुकुमारकरचरणोरः(स्)स्थलविपुलबाह्वं(म्)सगलवदना-

द्यवयवविन्यासः(फ्) प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो

नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायतनयनरुचिरः(स्)

सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदन-

महोत्सवेन पुरवनितानां(म्) मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः(फ्)

परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽ-

वधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत ॥ 31॥

यद्यपि उनके हाथ, पैर, छाती, लम्बी-लम्बी बाँहे, कंधे, गले और मुख आदि अङ्गोंकी बनावट बड़ी ही सुकुमार थी; उनका स्वभावसे ही सुन्दर मुख स्वाभाविक मधुर मुसकानसे और भी मनोहर जान पड़ता था; नेत्र नवीन कमलदलके समान बड़े ही सुहावने, विशाल एवं कुछ लाली लिये हुए थे; उनकी पुतलियाँ शीतल एवं संतापहारिणी थीं। उन नेत्रोंके कारण वे बड़े मनोहर जान पड़ते थे। कपोल, कान और नासिका छोटे-बड़े न होकर समान एवं सुन्दर थे तथा उनके अस्फुट हास्ययुक्त मनोहर मुखारविन्दकी शोभाको देखकर पुरनारियों के चित्तमें कामदेवका सञ्चार हो जाता था; तथापि उनके मुखके आगे जो भूरे रंगकी लम्बी-लम्बी घुँघराली लटे लटकी रहती थीं, उनके महान् भार और अवधूतोंके समान धूलिधूसरित देहके कारण वे ग्रहग्रस्त मनुष्यके समान जान पड़ते थे ।

यर्हि वाव स भगवान् लोकमिमं(यँ) योगस्याद्धा

प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति

व्रतमाजगरमास्थितः(श्) शयान एवाश्नाति पिबति

खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः ॥ 32॥

जब भगवान् ऋषभदेवने देखा कि यह जनता योगसाधनमे विनरूप है और इससे बचनेका उपाय बीभत्सवृत्तिसे रहना ही है, तब उन्होंने अजगरवृत्ति धारण कर ली। वे लेटे-ही-लेटे खाने-पीने, चबाने और मल-मूत्र त्याग करने लगे। वे अपने त्यागे हुए मलमें लोट-लोटकर शरीरको उससे सान लेते ।

तस्य ह यः(फ्) पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं(न्) देशं(न्)

दशयोजनं(म्) समन्तात् सुरभिं(ञ्) चकार ॥ 33॥

(किन्तु) उनके मलमें दुर्गन्ध नहीं थी, बड़ी सुगन्ध थी। और वायु उस सुगन्धको लेकर उनके चारों ओर दस योजनतक सारे देशकोसुगन्धित कर देती थी ।

एवं(ङ्) गोमृगकाकचर्यया व्रजं(म्)स्तिष्ठन्नासीनः(श्) शयानः(ख्)

काकमृगगोचरितः(फ्) पिबति खादत्यवमेहति स्म ॥ 34॥

इसी प्रकार गौ, मृग और काकादिकी वृत्तियों को स्वीकार कर वे उन्हींके समान कभी चलते हुए, कभी खड़े-खड़े, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने और मल-मूत्रका त्याग करने लगते थे ।

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽ-

विरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां(म्) भूताना-

मात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधाना-

नन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि

वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि

यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत् ॥ 35॥

परीक्षित् ! परमहंसोंको त्यागके आदर्शकी शिक्षा देनेके लिये इस प्रकार मोक्षपति भगवान् ऋषभदेवने कई तरहकी योगचर्याओंका आचरण किया। वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्दका अनुभव करते रहते थे। उनकी दृष्टिमें निरुपाधिकरूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा अपने आत्मस्वरूप भगवान् वासुदेवसे किसी प्रकारका भेद नहीं था। इसलिये उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे। उनके पास आकाशगमन, मनोजवित्व (मनकी गतिके समान ही शरीरका भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुँच जाना), अन्तर्धान, परकायप्रवेश (दूसरेके शरीर में प्रवेश करना), दूरकी बातें सुन लेना और दूरके दृश्य देख लेना आदि सब प्रकारकी सिद्धियाँ अपने-आप ही सेवा करनेको आयीं; परन्तु उन्होंने उनका मनसे आदर या ग्रहण नहीं किया ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां सं(म्)हितायां(म्)

पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवानुचरिते पञ्चमोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥